अनन्तर/जनसत्ता/१७ दिसंबर, २००६

अवांतर सिनेमा

ओम थानवी

क्या सार्थक सिनेमा की निरंतरता हिंदी में अब भी कोई संभावना है?

एक हफ्ते में समांतर सिनेमा की दो हस्तियों से रूबरू होने के बाद मेरे मन में यह अजीब-सी कसमसाहट है।

श्याम बेनेगल हिंदी में 'नई धारा' के प्रवर्तक माने जाते हैं। हालांकि इस धारा में प्रयोग उनसे पहले भी हुए, पर बेनेगल ने उसे आंदोलन की शक्ल दी। एक के बाद एक सार्थक फिल्में उन्होंने बनाईं। वे हमारी जमीन की फिल्में थीं, उनमें यथार्थ अपनी दारुण शक्ल में था: तल्ख और स्टूडियो की चहारदीवारी में गढ़े जाने वाले मुंबइया फिल्मों के लिजलिजे आदर्शवाद से कोसों दूर।

बेनेगल दिल्ली में 'सहर' के एक आयोजन में समीक्षक सैबल चटर्जी और आमंत्रित श्रोताओं के साथ संवाद में शरीक थे।

गोविंद निहलानी आठ वर्ष उनकी फिल्मों के छायाकार रहे हैं। बाद में उन्होंने भी निर्देशक के रूप में 'नई धारा' को थाम लिया। उनकी फिल्मों में व्यवस्था को ललकारने और सांप्रदायिकता जैसे संवेदनशील मुद्दे को सिनेमा के केंद्र में लाने का साहस झलकता है। 'अनन्तर' में छपी टिप्पणी ''मुन्ना, जिन्ना और गांधी'' पढ़कर उन्होंने मुझे बातचीत का न्योता दिया था।

दोनों फिल्मकारों के लिए मेरे मन में बहुत आदर है। दोनों उम्दा इंसान हैं और दोनों में साफगोई है।

लेकिन मुझे लगा कि दोनों संवाद आधे-अधूरे रहे। इसमें दोष उनका नहीं था। निहलानी के पास कहने को बहुत था। पर वक्त कम था। सुबह उन्हें मुंबई लौटना था। बेनेगल फुरसत में थे। खुल भी गए थे। पर लोगों के पास सवाल नहीं थे। बातचीत 'अंकुर', 'निशांत' और 'मंथन' के स्मृतिमोह से बाहर नहीं निकल पाती थी। बीस फिल्में और इनसे तिगुने वृत्तचित्र बना चुके बेनेगल से 'भूमिका', 'कलयुग', 'त्रिकाल', 'सुस्मन' या 'जुबैदा' जैसी फिल्मों पर कोई सवाल नहीं पूछा गया। न किसी को सत्यजित राय, नेहरू या राजस्थान पर बनाए उनके वृत्तचित्रों का खयाल आया। न ही 'भारत: एक खोज' या 'यात्रा' जैसे टीवी फिल्मांकन का। तुर्रा यह कि दिल्ली में ऐसे संवाद 'इवेंट'- यानी घटना- कहलाते हैं!

बहरहाल, बेनेगल और निहलानी- दोनों के- विचारों में सुखद पहलू यह था कि दोनों ने अहिंसा की ताईद की। निहलानी को मैं सिनेमा में अतिशय आक्रामकता का हामी मानता आया हूं। यह भी समझता था कि बेनेगल भी, संयमित रूपायन के बावजूद, हिंसा से परहेज नहीं करते। 'निशांत' इसका उदाहरण है। 'अंकुर' में उसका सिर्फ इशारा था। संवाद में एक सज्जन तो पूछ भी बैठे कि 'अंकुर' के आखिरी दृश्य में बच्चा जो पत्थर फेंकता है, क्या उसे नक्सलबाड़ी आंदोलन से जुड़ा तत्त्व मानें? बेनेगल ने बड़ी सहजता के साथ कहा- नहीं, पर उसमें तेलंगाना आंदोलन की छाया जरूर है। प्रसंगवश, बेनेगल आंध्र प्रदेश के रहने वाले हैं। छिटपुट और छोटे-छोटे सवालों के कतिपय लंबे जवाबों के बीच उन्होंने- बहुत साफ शब्दों में- कहा: ''मैं हिंसा के खिलाफ हूं।... दूसरे, मैं ऐसी फिल्म भी नहीं बना सकता जो आशा न जगाती हो।''

लेकिन व्यावसायिक विवशता की बात बेनेगल ने स्वीकार की। उन्होंने कहा कि फिल्म की सफलता का लक्ष्य सामने रखना पड़ता है। ''मेरी खुशकिस्मती थी कि 'अंकुर' सफल रही। उसे व्यावसायिक सफलता न मिली होती तो मेरा करियर वहीं खत्म हो जाता। उस फिल्म की कमाई से प्रेरित होकर ही

निर्माता ने आगे की फिल्मों में पैसा लगाया।'' फिर उन्होंने व्यवसाय जगत की पारिभाषिक शब्दावली में 'मार्केटिंग', 'मीडिया सपोर्ट' आदि की अहमियत पर जोर डाला। बाद की कुछ फिल्मों का जिक्र करते हुए उन्होंने कहा कि सरकारी संस्थाएं फिल्म की सफलता के प्रयास नहीं करतीं; निजी निर्माता होता है तो बेहतर रहता है। उन्होंने इस बात पर भी बल दिया कि फिल्म की सफलता के लिए 'स्टार कास्ट' जरूरी है।

क्या व्यावसायिक सफलता को लेकर इतने फिक्रमंद हो उठने की वजह से ही बेनेगल का अंकुर–निशांत–मंथन का सफर 'जुबैदा' जैसी कमोबेश मुख्यधारा की फिल्म तक आ पहुंचा है? उसमें रेखा है, करिश्मा कपूर है, एआर रहमान हैं, जावेद अख्तर और लता मंगेशकर हैं और नाच–गान के साथ ऐसी कहानी है जो मायालोक के ज्यादा करीब दिखाई देती है। हालांकि फिल्म बुरी नहीं है। बेनेगल के निर्देशन की छाप उसमें पहचानी जा सकती है। लेकिन इसमें वह यथार्थ नहीं है जिसे हम समांतर सिनेमा के साथ रखकर पहचान सकें। मानो सत्तर के दशक वाले जुझारू बेनेगल का गांव पीछे छूट गया हो। अस्सी का कलयुगी यथार्थ भी। 'सूरज का सातवां घोड़ा' तक अब बीती दास्तान लगती है, जिससे नब्बे के दशक का उन्होंने आगाज किया था। 'आरोहण' के किसान, 'सुस्मन' के जुलाहे और 'समर' के दलित पिछड़े भारत के पीड़ित चेहरे थे। उनके साथ खड़े होकर, उनकी हकीकत को विश्वसनीय ढंग से रखकर श्याम बेनेगल ने अपना कद बहुत ऊंचा किया।

याद करें, बेनेगल ही थे जिनकी फिल्मों ने स्मिता पाटिल, शबाना आजमी, नसीरुद्दीन शाह और ओम पुरी जैसे अनेक कलाकारों को पहचान दी। वही बेनेगल अब सितारों को फिल्म की जरूरत समझने लगें तो संशय होता है कि नई धारा कहीं मुख्यधारा से हाथ तो नहीं मिला रही! अगर ऐसा है तो ऋषिकेश मुखर्जी, बासु चटर्जी, गुलजार या महेश भट्ट क्या बुरे थे जिन्होंने इक्का–दुक्का आवेग भरी फिल्में बनाकर दिल बहलाने वाली फिल्मों की डोर पकड़ ली!

समांतर आंदोलन आया और चला गया। एक फिल्मकार गांव–कस्बे या किसान–मजदूर के इर्द–गिर्द कब तक घूमता रह सकता है? बात ठीक है। फिल्म का विषय कोई भी हो सकता है। लेकिन एक गंभीर फिल्मकार का सरोकार कोरे मनोरंजन से ऊपर होता है। उसके व्यवसाय और दूसरों के व्यवसाय में भी फर्क होता है। जाने–माने कलाकारों की भीड़ के बावजूद 'मण्डी' या 'कलयुग' में वह फर्क साफ झलकता था। लेकिन 'जुबैदा' में एक स्त्री की व्यथा से उठी कहानी कई छोरों पर छिटक जाती है। उसका सरोकार वहां अलग है। फिल्म व्यथा को अविश्वसनीय चरित्रों के बीच झुला देती है। उसका यथार्थ मायावी है। वह गढ़ा हुआ अतिरंजित यथार्थ है।

'सहर' के संवाद के दो रोज बाद ही एक अनौपचारिक बातचीत में मैंने बेनेगल से पूछा कि फिल्म में राजस्थान के एक रजवाड़े की दुर्घटना जरूर है, पर कहानी कुछ दूसरी बन गई है। उन्होंने माना, पर कहा कि कानूनी झमेले से बचने के लिए बहुत बदलाव किए गए थे। मुझे लगता है फिल्म को ज्यादा नाटकीय बनाने की गरज से ऐसा किया गया होगा।

गोविंद निहलानी से मेरी यदा–कदा की मुलाकात थी। खुलकर बात पहली दफा हुई। उनका कहना था कि अपने स्तंभ में 'लगे रहो मुन्नाभाई' की मैंने जो तारीफ की, वह वाजिब थी। लेकिन आलोचना वाले हिस्से से वे सहमत नहीं जान पड़े।

रिचर्ड एटनबरो की अनूठी फिल्म 'गांधी' के फिल्मांकन से जुड़े रहे गोविंद 'मुन्नाभाई' की सफलता से अभिभूत थे। उन्होंने कहा, आखिर क्या चीज है जिसने लोगों को इतना प्रभावित किया कि फिल्म दूर–दूर तक सफल हुई। उनके मुताबिक युवा पीढ़ी को एक विकल्प दिखाई पड़ा है फिल्म के जरिए। कि बगैर लड़े लड़ाई जीती जा सकती है। देश ऐसे दौर से गुजर रहा है जिसमें हिंसा है, दादागीरी है, आतंकवाद है, माफिया है। ''हमें लगने लगा था कि सामने कोई गुंजाइश ही नहीं है। लेकिन अचानक

एक विकल्प, एक हल दिखाई पड़ा। ऐसे सिद्धांत से जुड़ा हुआ, जिसकी हम दिल से इज्जत करते हैं। गांधी के सिद्धांत। अहिंसा का बड़ा, पर सरल सिद्धांत– हिंसा के साथ हिंसा से मत लड़ो।''

वे 'गांधीगीरी' शब्द के प्रयोग पर भी चकित थे। उनका मानना था, उस एक शब्द ने जादू का असर किया है। ''जैसे एक आह्वान करता है। गांधी के भारत छोड़ो और करो या मरो के आह्वान ने आखिर पूरे देश को बांध दिया था।'' उन्होंने जय जवान जय किसान, गरीबी हटाओ, मेरा भारत महान आदि नारों का हवाला दिया। ''छोटे से नारों में हम बहुत सारी चीजों को समझ लेते हैं। वह जनमानस की चेतना का हिस्सा बन जाता है। 'गांधीगीरी' की जगह आप 'गांधीवाद' करके देखें, कितना भारी हो जाता है! गांधी का पूरा दर्शन उसमें आ जाएगा, जिसमें लोगों की बहुत दिलचस्पी नहीं है।... वह निश्चय ही जीनियस रहा होगा जिसने गांधीगीरी शब्द ईजाद किया।''

मैंने कहा कि इस शब्द का इस्तेमाल सबसे पहले फणीश्वरनाथ रेणु ने किया था। दादागीरी के जवाब में हल्के-फुल्के अंदाज में गांधीगीरी शब्द बनाया जा सकता है। लेकिन गंभीर होकर उसका इस्तेमाल शायद नहीं हो सकता। फिल्म में भी, जो मूलत: कॉमेडी है, इस शब्द का इस्तेमाल एक-आध जगह ही हुआ है। फिल्म में नायक के नुस्खों की सफलता के डंके के साथ लोग– खासकर पत्रकार– इस शब्द को ले उड़े। लेकिन यह बहुत समय तक ठहरेगा नहीं।

फिल्म के गांधी-प्रेम पर भी मैंने फिर शंका प्रकट की। मैंने कहा, खादी और गांव को हम भूल भी जाएं, पर सादगी के बगैर गांधी-विचार की बगल से भी नहीं निकल सकते। उस फिल्म में भव्यता है, चकाचौंध है, हिंसा है। यह महज 'गांधीगीरी' है, जो बहुत देर नहीं चल पाएगी।

गोविंद बोले, जरूर चलेगी। ''मैं कहता हूं छह महीने चले। क्यों सौ साल चले! लेकिन यह समझना होगा कि क्या चीज है जिसकी वजह से फिल्म चल निकली।''

मैं समझ रहा था कि वे 'मास अपील' की बात पर जोर देना चाह रहे थे। मैंने हंसते हुए कहा, मुंबई के फिल्म वाले यह बखूबी जानते हैं कि दर्शक को कैसे रुलाया, हंसाया और लुभाया जाए। जो निर्देशक हिरानी का कमाल है, लोग उसे गांधी की झोली में डाल रहे हैं। गांधी अव्वल तो देश से अभी उठे नहीं हैं; उठ जाएं तो एक कॉमेडी उन्हें वापस नहीं ला सकती। एक फिल्म से यह उम्मीद ही बेजा है।

श्याम बेनेगल की तरह गोविंद निहलानी ने भी 'स्टार' की जरूरत पर जोर दिया। बेनेगल कुछ हताश स्वर में यह बात कहते हैं। निहलानी साफ कहते हैं कि अपनी तरह की फिल्म बनाने के साधन सिकुड़ते चले गए हैं। व्यवसायीकरण ने माहौल बदल दिया है। ग्लैमर और हो-हल्ले का जलवा है। ऐसे में अपने 'सरवाइवल' के लिए लोकप्रिय सिनेमा के साधनों की तरफ भी देखना पड़ता है। परदे के बड़े नाम– जिन्हें लोग बार-बार देखना चाहते हैं– साथ हों तो साधन मिलते हैं। अपने ढंग की फिल्म बना सकें, यह आदर्श स्थिति होगी। पर फिल्म के लिए पैसा चाहिए। फिर फिल्मकार कोई मसीहा या समाज-सुधारक तो नहीं है।

बातचीत के दौरान इस पहलू ने मेरा ध्यान देर तक खींचे रखा कि गोविंद निहलानी 'गांधीगीरी' और 'अहिंसा' से कितने प्रभावित हुए हैं। यह सामान्य बात नहीं थी। समांतर सिनेमा की धारा को आगे बढ़ाते हुए गोविंद हिंसा से जैसे आक्रांत रहे। 'आक्रोश' में हिंसा पर मानवीयता भारी थी। लेकिन 'अर्द्धसत्य' में हिंसा जुगुप्सा की हद तक छाई हुई थी। उसमें नाइट क्लब के दृश्य भी थे। फिल्म ने ऐसी सफलता अर्जित की कि समांतर सिनेमा का व्यापारिक सिक्का जम गया। फिल्म मुंबई के पांच सिनेमाघरों में दस हफ्ते एक साथ चली।

हिंसा निहलानी की बाद की फिल्मों की पहचान बन गई। कभी कम, कभी ज्यादा। 'पार्टी' और 'दृष्टि' जैसी कुछ फिल्में ही इससे बरी थीं। लेकिन 'आघात', 'तमस', 'द्रोहकाल' या 'देव' में हिंसा केंद्र में थी। मुझे कई दफा लगा है कि हिंसा के इस्तेमाल में निहलानी ने समांतर फिल्मों की विफलता

का जैसे एक तोड़ ढूंढ़ लिया था। मानो सत्ता और सांप्रदायिकता के खिलाफ उठने वाली उनकी साहसिक आवाज के बीच हिंसा कोई फार्मूला हो। हिंसा और यौनाचार हिंदी सिनेमा के दर्शक की– प्रकारांतक फिल्मकारों की– कमजोरी रहे हैं।

लेकिन दर्शक दुहराव को एक ही शक्ल में ज्यादा देर नहीं देख सकता। वह चाहे सादगी के भेष में हो, चाहे हिंसा या यौन के। आखिर 'हजार चौरासी की मां' संवेदनशील कथानक के बावजूद नहीं चल पाई। उसके बाद ही गोविंद मुख्य धारा की तरफ झुके। बेनेगल से थोड़ा पहले। अजय देवगन और तब्बू के साथ 'तक्षक' बनाई। फिर अमिताभ बच्चन और फरदीन–करीना को लेकर 'देव'। लेकिन उनकी ये फिल्में नहीं चलीं। 'देव' में उन्होंने 'अर्द्धसत्य' और 'तमस' के सारे घटक इस्तेमाल कर लिए थे। पर 'अर्द्धसत्य' सत्य के ज्यादा करीब थी। 'देव' में ''इस देश में पॉलिटिक्स सबसे बड़ा हत्यारा है'' जैसी नाटकीयता थी। 'अर्द्धसत्य' का दर्शक वर्ग समांतर सिनेमा का अपना था। मुख्य धारा के दर्शक चोपड़ा–सिप्पी या घई–देसाई की परंपरा में पली–पुसी जमात हैं। वे ताड़ सकते थे कि मुख्य धारा के कलाकारों की छाया में 'देव' किसी दूसरी धारा की चहलकदमी है।

निहलानी नहीं मानते कि गंभीर फिल्मकार दूसरे पाले में जा रहे हैं। उनका कहना है कि दो धाराएं समांतर चलती हैं तो कहीं मिल खड़े होने का भ्रम हो जाता है। वे आपस में जुदा हैं। लेकिन वहां एक तरह का सह–अस्तित्व भी है। क्योंकि हम सब उसी तंत्र का इस्तेमाल करते हैं। वितरक, सिनेमाघर वही हैं जो बड़ी फिल्मों के हैं।

मुझे याद पड़ता है, एक बातचीत में गोविंद ने लोकप्रिय सिनेमा के मामले में बाजार के दबावों का जिक्र करते हुए कहा था कि उन फिल्मों में आखिरी निर्णय निर्देशक का नहीं, निर्माता का होता है। जबकि समांतर सिनेमा निर्देशक का माध्यम था, बाजार का नहीं। उस बातचीत में गोविंद ने आपबीती सुनाई थी कि 'तक्षक' के फिल्मांकन पर अंतिम नजर दौड़ाते वक्त वितरकों ने उनकी पटकथा ही बदलवा दी थी। जो थोड़े–बहुत बदलाव हुए, उनकी बदौलत फिल्म आठ–नौ महीने देर से तैयार होकर बाहर आई!

जाहिर है, स्थिति विकट है। सार्थक सिनेमा पर बाजार की काली छाया पड़ चुकी है। जिस व्यवस्था के खिलाफ वह उठ खड़ा हुआ था, वही उसे लील रही है। बचे रहने के लिए जैसे यह आत्म–समर्पण का दौर है। व्यावसायिक फिल्में बनाकर कुछ अच्छी फिल्में बनाने की तड़प ऐसा दिलासा है जो कभी रंगमंच से सिनेमा के संसार में जाने वालों ने दिया था। वे वहीं के होकर रह गए। सिनेमा के हमारे दो मजबूत स्तंभ आज दोनों तरफ खड़े दिखाई देते हैं। कल क्या होगा, यह क्या सिर्फ अंदाजे की बात है?

जरा मुड़कर देखें कि श्याम बेनेगल या गोविंद निहलानी समांतर फिल्म के अलम–बरदार क्यों कहलाए। इसके लिए हिंदी सिनेमा के अतीत को टटोलना होगा। हमारी आरंभिक फिल्मों में न घृणास्पद हिंसा थी, न ग्लैमर। उनमें सादगी और आदर्शवाद भी था। ऐसे लोग हैं जो मानते हैं कि हिंदी में इतालवी सिनेमा का नव–यथार्थवाद बिमल राय की 'दो बीघा जमीन' और प्रकाश अरोड़ा की 'बूट पॉलिश' के साथ ही आ पहुंचा था। 'पथेर पांचाली' (१९५५) बनने से दो साल पहले! यहां तक कि नव–यथार्थवाद से निकली फ्रांस की नई धारा– त्रुफो, गोदार, शाबरोल आदि जिसके नायक थे– से भी पहले।

इस तरह देखा जाय तो हिंदी में यथार्थ का चित्रण और पीछे जाकर वी. शांताराम की 'आदमी', ख्वाजा अहमद अब्बास की 'धरती के लाल' और चेतन आनंद की 'नीचा नगर' में भी ढूंढ़ा जा सकता है। यकीनन इन लोगों ने और बाद में बिमल राय, महबूब खान और गुरुदत्त आदि ने अनेक बेहतर फिल्में बनाईं। लेकिन मुझे लगता है उनका संसार रूमानी था। गरीबी भी, अमीरी भी। उन फिल्मों पर हॉलीवुड की तकनीक और अतिनाटकीयता की छाप साफ थी। रॉबर्तो रोसेलिनी या वितोरियो डी सीका

का नव-यथार्थवाद फिल्म को स्टूडियो से सड़क तक ले आया। लोगों के अपने बीच। उसमें छोटे, अनजाने कलाकार थे। बंधा-बंधाया कथा ढांचा नहीं था। न नाटकीय संवाद थे। बाजारू नाच-गाना भी नहीं था। उसमें सच्चा यथार्थ था, खुरदरा और बेलौस। चरित्रों में मनोविज्ञान था। नई चाक्षुष भाषा थी। समाज का चेहरा मानवीय था। गलदश्रु भावुकता और झूठे आदर्शवाद की उसमें कहीं जगह नहीं थी।

हमारे यहां वह धारा सत्यजित राय लाए। फ्रांस की काव्य-यथार्थ नामक फिल्म धारा के अगुवा ज्यां रेनुआ को प. बंगाल के उजाड़ में 'द रिवर' (दरिया) फिल्माते देखकर उनका उत्साह जागा। बाद में छह महीने के लंदन प्रवास में कोई सौ फिल्मों के बीच जब डी सीका की 'बाइसिकल थीव्ज' (साईकिल चोर) देखी तो परदे पर भारतीय यथार्थ के रूपांकन की ललक बलवती हुई। देश लौटकर जल्दी ही उन्होंने इसे साकार किया। हिंदी में इस नए भारतीय यथार्थवाद का आगाज 'उसकी रोटी' (१९६९) बनाकर मणि कौल ने किया। उसी वर्ष मृणाल सेन ने 'भुवन शोम' बनाई थी। पर सत्यजित राय की तरह हिंदी सिनेमा से वे अपवाद की तरह ही जुड़े। तीन साल बाद कुमार शहानी ने 'मायादर्पण' बनाई। कौल और शहानी ने पूना के फिल्म और टेलीविजन संस्थान में अप्रतिम फिल्मकार ऋत्विक घटक से दीक्षा पाई थी। लेकिन पूरी तैयारी के साथ नए सिनेमा की नई लहर 'अंकुर' (१९७३) बनाकर श्याम बेनेगल लाए। गोविंद निहलानी ने इसी धारा को और आगे बढ़ाया। ये दोनों भी संस्थान से प्रशिक्षण लेकर आए थे।

काल-क्रम के नामकरण से बचें तो बेनेगल-निहलानी के सिनेमा को हम दूसरा सिनेमा कह सकते हैं। लोकप्रिय न होने का जोखिम उसमें सायास था। उन फिल्मों में राजनीतिक सजगता थी। बेनेगल में वह कलात्मक थी, निहलानी में जरूरत से कुछ ज्यादा मुखर। लेकिन शोषित वर्ग का यथार्थवादी चित्रण दोनों की फिल्मों में था। इस धारा में बाद में केतन मेहता, सईद मिर्जा या प्रकाश झा जैसे कई नाम जुड़ते और छूटते चले गए। लेकिन बेनेगल और निहलानी के काम में निरंतरता और प्रतिबद्धता कायम रही। आज वह एक चिंताजनक मोड़ पर आ खड़ी हुई है।

लेकिन इसके लिए क्या उन्हें दोषी ठहराया जा सकता है? हिंदी का वह बड़ा दर्शक वर्ग कहां चला गया जो समांतर आंदोलन ने तैयार किया था? श्याम बेनेगल की तरह कई लोगों का खयाल है कि टीवी के फैलाव ने दर्शकों को बांट दिया है। लेकिन दर्शकों के सामने क्या सचमुच कोई विकल्प बचा हुआ था? हिंदी के कई गंभीर फिल्मकार अपनी दुनिया छोड़कर टीवी की शरण में चले गए। अच्छी फिल्म बनाने वालों को बड़ी फिल्म बनाने का बुलावा आया तो वे उधर चल दिए। वे भूल गए कि छोटी फिल्में भी बड़ी होती हैं। उनके कलाकार भी रुख्सत हो गए। उन्हें पैसे और ग्लैमर ने मोह लिया। देखते-देखते सादगी, संघर्ष, विचार और कला की प्रतिबद्धता छिन्न-भिन्न हो गई। जो समझौता नहीं कर सकते थे, वे घर बैठ गए। गौर करने की बात है कि मलयालम-कन्नड़ का समांतर सिनेमा बाजार की मार के बावजूद कायम है।

ऐसे माहौल में श्याम बेनेगल और गोविंद निहलानी अगर सक्रिय हैं तो जाहिर है अपने बदले हुए नजरिए के कारण। अपनी दुनिया छोड़ वे मुख्य धारा की देहरी पर खड़े हैं। हिंदी की समांतर धारा अब इतिहास की चीज है। नया सिनेमा अवांतर धारा है।